जातिवादमुक्त भारत की ओर

अमरजीत एस नारंग

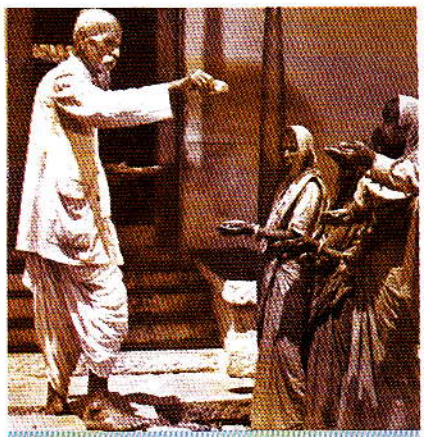

जातिवाद हमारे समाज के सामाजिक- आर्थिक व राजनीतिक कलेवर को प्रभावित कर रहा है। हां यह सच है कि सामाजिक परिदृश्य में जातियां धीरे-धीरे मर रही हैं। जीवन व कार्य की आधुनिक स्थिति ने कई कड़ी परंपराएं, धारणाएं व व्यवहार प्रस्तुत किए हैं। अब इंटर डायनिंग व अंतरजातीय विवाह टैबू नहीं रह गए हैं ख़ास कर शहरी इलाकों में, अधिकाश शिक्षित व्यक्ति तथा शैक्षिक संस्थाओं में जाति व्यवस्था कमजोर हुई है। दूसरा सकारात्मक पहलू यह है कि विगत कुछ वर्षों के दौरान, चुनाव, ख़ास कर लोकसभा चुनाव में जाति बैकसीट पर रही है

जातिवाद भारत की एकता के साथ-साथ इसके सामाजिक आर्थिक विकास की राह पर सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है। जब हम एक ऐसे भारत की ओर देखते हैं, जो एकीकृत है, उन्नत व विकसित है, तब यह एक बड़े सामाजिक व राजनीतिक विभाजक बल के रूप में काम कर रहा है जो सामाजिक संघर्ष पैदा कर रहा है, स्थिरता, शान्ति व सौहार्द्र को भंग कर रहा है, चुनावी परिणामों को प्रभावित कर रहा है और गहन विधायी व कार्यकारी निर्णय लेने में भी कठिनाइयां पैदा कर रहा है। न सिर्फ हिन्दू बल्कि सभी भारतीय, बेशक वे सिख, मुस्लिम, जैन, बौद्ध या कि इसाई हों, सभी जगहों पर जातिवाद किसी न किसी रूप में मौजूद है। राजनेताओं, नीति-निर्माताओं, समीक्षकों तथा महत्वपूर्ण नेताओं में इस बात की आपसी सहमति है कि निर्धनता, निरक्षरता और रोगों आदि से मुक्त एक मजबूत भारत बनाने के लिए और विश्व पटल पर एक महत्वपूर्ण स्थान हासिल करने के लिए जातिवाद का उन्मूलन सबसे ज़रूरी है।

जाति व्यवस्था

समीक्षकों व विद्वानों के मध्य जाति व्यवस्था की परिभाषा, उसके उद्भव और विभिन्न कालखंडों में इसकी भूमिका को लेकर काफी मतभेद है। अपने सबसे सामान्य और मूलभूत रूप में यह सामाजिक स्थिति व अनुक्रम की आरोपण प्रणाली है। यह पारंपरिक पेशेवर विशेषज्ञता से संबद्ध तथा सहभागिता संबंधी बाध्यताओं में प्रदर्शित परंपराओं सहित अंतर्विवाही संबंध आधारित सामाजिक विभाजन प्रणाली का एक प्रकार है। हालांकि, एक समय पर जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था से संबद्ध थी, इसका मूल स्रोत धार्मिक ग्रंथों में नहीं पाया जाता। जाति व्यवस्था के बीज तकरीबन 2000 वर्ष पूर्व विकास के आर्थिक, राजनीतिक व भौतिक प्रक्रियाओं में मिलते हैं। यह कभी भी भारतीय जीवन का एक नियत तथ्य नहीं रहा है किन्तु तत्समय के सामाजिक राजनीतिक व ऐतिहासिक परिदृश्य में जातिवाद बढ़ता रहा है। ब्रिटिश शासन से पूर्व, जातिवाद अलग रूप में रहा।

औपनिवेशिक समय में जाति

जाति लंबे समय से हमारे समाज की सच्चाई रही है, लेकिन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान जाति को भारतीय समाज के प्रमुख चरित्र के रूप में पहचाना गया। 1871 की पहली जनगणना जाति व्यवस्था व इसके वर्गीकरण के बारे में सूचना एकत्रित करने का प्रमुख उपकरण बन गया। नीरजा जयाल के अनुसार जनगणना की संख्या के अनुसार, जातियों व उपजातियों के निर्धारण ने अब तक अनचिन्हे रूप में रहे जाति पहचानों को निर्धारित करने में योग दिया है। खास तौर पर 1901 से 1911 के बीच वाली गणना ने जाति की पहचान को और दृढ़ रूप में स्पष्ट वर्गों में उभारने का कार्य किया।

ब्रिटिश शासकों ने *फूट डालो और राज़ करो* के औज़ार के रूप में जाति व्यवस्था का उपयोग किया। उन्होंने जाति व्यवस्था को सख्ती से लागू किया। उन्होंने सरकारी संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में जाति का संस्थानीकरण किया। कुछ जातियों को ख़ास नौकरियों मसलन पुलिस व सेना के लिए वरीयता दी जाती थी, जबकि कुछ को अपराधी के रूप में ब्रांड किया जाता था। कुछ क़ानून भी जाति देख कर बनाए जाते थे। श्रीनिवास के अनुसार, इसका प्रभाव यह

लेखक इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर रहे हैं। वह ब्रॉक, मैक्गिल तथा क्वींस विश्वविद्यालय के अलावा शिमला स्थित इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज में अध्येता भी रहे हैं। अनेकानेक शोध पत्र प्रकाशित तथा अनेक शोध पत्रिकाओं के संपादक मंडल में शामिल।
ईमेल: asnarang7@hotmail.com

हुआ कि इसने जाति चेतना व अंतरजातीय प्रतियोगिताओं को बढ़ावा दिया क्योंकि अब जाति संबंधों के लिए अपनी क्षेत्रीय बाधाओं से उबरने और ब्रिटिश सरकार से अपने हित के लिए मोलभाव करने की दिशा में जातिगत समीकरण विकसित करना संभव था। जाति व्यवस्था के प्रणेता, जैसा कि जयाल ने लिखा है कि अब पारंपरिक व्यवस्था के सदस्य नहीं है लेकिन राजनीति के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी बाहरी रहे। राष्ट्रीय नेताओं ने भेदभाव को कम करने और राष्ट्रीय संघर्ष में सामाजिक न्याय के मसले को शामिल करने का प्रयास किया पर अधिक सफल न हो सके।

स्वतंत्र भारत में जाति

औपनिवेशिक शासन के दौरान जाति समूह पहचान के प्रति जागरूक व संगठित हुए। स्वतंत्रता के समय उनमें से कुछ अपनी ज़रूरतों व सरोकारों के प्रति काफी मुखर थे। संविधान निर्माता समतामूलक व सौहार्द्रपूर्ण समाज बनाने को प्रतिबद्ध थे। इसीलिए 1950 में संविधान ने समानता व स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के ज़रिए किसी भी तरह के भेदभाव और अस्पृश्यता के कारण जाति व्यवस्था का उन्मूलन किया। इसी समय कुछ तबके के लंबे नुकसान को दूर करने के लिए सकारात्मक कार्रवाइयों की आवश्यकता के अनुपालन में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्ग के लिए सकारात्मक कार्रवाई हेतु प्रावधानों को भी संविधान में शामिल कर दिया गया है। यह उम्मीद की गई कि सामाजिक आर्थिक विकास तथा बदलाव के साथ समाज एकीकृत होगा।

पिछले सात दशकों के दौरान, सामाजिक व आर्थिक परिदृश्य से जहां जाति का प्रभाव कम हो रहा है, वहीं राजनीति में इसे बढ़ावा मिल रहा है। जाति, हिंसा व आरक्षण के द्वंद्व से उभरते ध्रुवीकरण वाले नए जाति आधारित संगठन सामने आ रहे हैं। जाति ने अपने को देश की आर्थिक राजनीतिक ढांचे में अंत:स्थापित कर लिया है। युनिवर्सल एडल्ट फ्रेंचाइज़ी में लोकतन्त्र अपनाए जाने के साथ निरक्षर व राजनीतिक रूप से अधिक जागरूक नहीं रहने वालों, जो आर्थिक कार्यक्रमों, जाति, धर्म जैसे समुदाय सम्बन्धी जुड़ाव के संबंध में राजनीति को समझ सकते हैं। जाति व्यवस्था ने इसलिए लोकतंत्र के फ्रेमवर्क में राजनीतिक समाजीकरण, संग्रहण तथा सांस्थानीकरण की दिशा व वस्तु के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी है।

जातिवाद

जातिवाद अपने सामान्य रूप में जाति व उप जाति समूह के सदस्यों के आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक लाभों को बढ़ाने की प्रवृत्ति है जो अन्य जाति के सदस्यों व समग्र रूप से समाज के लिए अहितकर है। यह प्राथमिक व अंतिम रूप से किसी जाति समूह की राजनीतिक निष्ठा की विचारधारा भी है, जिससे अपनी जाति के प्रति अंध भक्ति, जो यह मानता है कि इसके ज़रिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक हितों की पूर्ति होगी, को बढ़ावा मिलता है। कभी-कभी, इसकी वज़ह से एक जाति के मन में दूसरी जाति के प्रति घृणा का भाव भी पैदा होता है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि द्वितीयक समूह की सुविकसित राजनीतिक संरचना के अभाव में, पहले से तैयार (रेडीमेड) प्राथमिक जाति समूह शक्ति व विभाजक लाभों के मूल प्रतियोगी के रूप उभरा। सहयोग जुटाने की जड़ में राजनेतागण जातिगत निष्ठाओं का दोहन कर रहे हैं। इनमें से अधिकांश विकास के प्रति उदासीन हैं। उनकी नज़र में लोकतंत्र व चुनाव शक्ति व सत्ता पाने का साधन भर है।

चुनावों में भाग लेने व उसे प्रभावित करने के अलावा, जाति का प्रयोग सही या गलत लाभों को प्राप्त करने के लिए दबाव समूह के रूप में भी किया जाता है। इसका एक महत्वपूर्ण पहलू आरक्षण के लिए या विरुद्ध दबाव रहा है। इसकी वजह से कई बार हिंसा हुई है जिससे सामाजिक संपत्ति को नुकसान व कानून के अनुरक्षण की दिशा में विचलन पैदा हुआ है।

चुनावों में भाग लेने व उसे प्रभावित करने के अलावा, जाति का प्रयोग सही या गलत लाभों को प्राप्त करने के लिए दबाव समूह के रूप में भी किया जाता है। इसका एक महत्वपूर्ण पहलू आरक्षण के लिए या विरुद्ध दबाव रहा है। इसकी वजह से कई बार हिंसा हुई है जिससे सामाजिक संपत्ति को नुकसान व कानून के अनुरक्षण की दिशा में विचलन पैदा हुआ है। इस रूप में जाति के राजनीतिकरण ने एकजुटता बनाई है जिससे जाति की भूमिका तय हो रही है जो नया व धर्मनिरपेक्ष है। जैसा कि मायरन विनर (2006) ने कहा है कि विडंबना है कि जाति व्यक्तिगत जीवन अवसरों के निर्धारण में कम महत्वपूर्ण हो गया है, वहीं राजनीतिक पहचान व सिविल समाज के संस्थागत घटकों के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। अब यहां जाति आधारित शिक्षित संस्थाएं, होटल्स, हाउसिंग सोसायटी आदि हैं। हां, उनमे से कुछ वंचितों को मुख्यधारा में लाने और उनकी आकांक्षाओं को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। सामान्यत: जातिवाद सामाजिक वैमनस्यता को बढ़ा रहा है और यह सामाजिक-आर्थिक विकास व नव आधुनिक भारत निर्माण के कार्य को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर रहा है।

उन्मूलन की जरूरत

जातिवाद हमारे समाज के सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक कलेवर को प्रभावित कर रहा है। हां यह सच है कि सामाजिक परिदृश्य में जातियां धीरे-धीरे मर रही हैं। जीवन व कार्य की आधुनिक स्थिति ने कई कड़ी परंपराएं, धारणाएं व व्यवहार प्रस्तुत किए हैं। अब इंटर डायनिंग व अंतरजातीय विवाह टैबू नहीं रह गए हैं ख़ास कर शहरी इलाकों में, अधिकांश शिक्षित व्यक्ति तथा शैक्षिक संस्थाओं में जाति व्यवस्था कमजोर हुई है। दूसरा सकारात्मक पहलू यह है कि विगत कुछ वर्षों के दौरान, चुनाव, ख़ास कर लोकसभा चुनाव में जाति बैकसीट पर रही है। राजनीतिक दल विकास, भ्रष्टाचार, कार्यनिष्पादन, प्रशासन आदि सरीखे प्रमुख विषयों को उठा रहे हैं। हालांकि अब भी ऐसे दल हैं जो जिनके लिए अब भी जाति वोट जुटाने के लिए मुख्य कार्ड है। वे जाति सहयोग को बढ़ाने में लगे रहते हैं। जबकि चुनावों में विकास व प्रशासन के मुद्दे शामिल हो रहे हैं, फिर भी राजनीति में जाति की भूमिका सीमित अर्थों में ही कम हुई है, खासकर राज्य व निचले स्तरों पर। अत: जातिवाद उन्मूलन, या कम से कम इसे कम करना आज की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

जातिवाद हटाने की दिशा में पहला कदम है शिक्षा। शिक्षा का अभिप्राय महज़ औपचारिक साक्षरता या स्कूली शिक्षा नहीं है। इसमें जाति व्यवस्था से जुड़ी धारणाओं के बारे में जागरूकता का सृजन व प्रसार शामिल है। कई बार जाति को धर्म व धार्मिक अभ्यास का हिस्सा समझा जाता है जो सही नहीं है। मतदाताओं को शिक्षित किए जाने की ज़रूरत है कि कैसे या तो किसी जाति विशेष के लिए या समग्र समाज के लिए बिना किसी विकास के लाभों के जातिवादी नेताओं द्वारा उन्हें बेवकूफ बनाया जाता है। स्कूलों में

शिक्षकों को विद्यार्थियों को साथ-साथ खाने व खेलने के लिए प्रोत्साहित करने की ज़रूरत है।

सामाजिक सांस्कृतिक असमानता का उन्मूलन समाज को आदिम समस्याओं से बाहर लाने के लिए अनिवार्य है। किसी भी जाति को कमतर या छोटा समझने से नेताओं को भेदभाव के खिलाफ उन्हें संगठित करने की वज़ह मिलती है। कुछ मामलों में सामाजिक और आर्थिक असमानता एकसाथ जुड़ी होती है। उदाहरण के लिए अनुसूचित जाति से जुड़े अधिकांश जन निर्धन व वंचित होते हैं। लोकतंत्र में यह उन्हें एकत्रित होने और राजनीतिक प्रक्रिया में प्रतिभागिता की वज़ह देता है। जब किसी नियत समूह से भेदभाव होता है तो वे संगठित होकर कदम उठा सकते हैं, यद्यपि नेतागण इनका प्रयोग परोक्ष अभिप्रायों व निहित स्वार्थ के लिए कर रहे हैं।

सिविल सोसायटी की सामाजिक व राजनीतिक बदलावों में काफी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उन्हें जागरूकता प्रसारित करनी है और जाति व धर्म से परे मतदाताओं को संगठित करना है और उन्हें विकास की अनिवार्यता, चुनाव में जाति व धर्म के विरोध और उनका सामाजिक सौहार्द्र व संघर्ष पर नकारात्मक प्रभाव के बारे में अवगत कराना है। सिविल सोसायटी अंतरजातीय विवाह को बढ़ावा देने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

इस दिशा में चुनाव आयोग की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि जातिवाद का सबसे बड़ा कारण चुनावी राजनीति है। चुनाव आयोग को जाति के उपयोग को समाप्त करने की राह ढूंढने होंगे। चुनावों में स्टेट फंडिंग, आचार संहिता का सख्त पालन, मतदाताओं की शिक्षा आदि इस दिशा में मददगार हो सकते हैं।

लगभग सभी राजनीतिक दल चुनावों में जाति को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति के आलोचक हैं फिर भी टिकट देते वक्त और मतदाताओं को जुटाते वक्त वे जातिवादी नेताओं का चुनाव करते हैं। चुनावों में देखी गई हालिया प्रवृत्ति बताती है कि मतदाता जाति व समुदाय से ऊपर उठ चुके हैं।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण है राजनीतिक इच्छा शक्ति और सहमति। हालांकि लगभग सभी राजनीतिक दल चुनावों में जाति को बढ़ावा देने की प्रवृत्ति के आलोचक हैं फिर भी टिकट देते वक्त और मतदाताओं को जुटाते वक्त वे जातिवादी नेताओं का चुनाव करते हैं। चुनावों में देखी गई हालिया प्रवृत्ति बताती है कि मतदाता जाति व समुदाय से ऊपर उठ चुके हैं और सरकार के कार्य-निष्पादन, नेतृत्व व विकास संबंधी मसलों को महत्त्व दे रहे हैं। इस प्रवृत्ति को मजबूत किए जाने की ज़रूरत है। राजनीतिक दलों को अल्पावधि लाभों से ऊपर उठाकर राष्ट्र-निर्माण के दीर्घकालिक उद्देश्य पर ध्यान देना चाहिए, जिसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता का दावा वे करते हैं। लोकतंत्र महज़ चुनावों में जीतना या हारना नहीं है। यह उससे काफी अधिक है।

लोकतंत्र के सार्थक कार्य करने हेतु यह ज़रूरी है कि मतदाता समेत सभी प्रतिभागी, तार्किक व्यक्ति हों, जो स्व-सराहना उनकी खुद की व्यक्तिगत योग्यता के मूल्यांकन पर निर्भर हो, न कि किसी अन्य सामाजिक समूह की योग्यता पर, जिससे वह संबंद्ध है। वे अपनी अपनी इच्छा से अपने मत का उपयोग करें न कि जाति, समुदाय, या सांप्रदायिक संबंध या कि दबाव पर। उम्मीद है कि हम भारतीय जागृत होंगे और स्वतंत्रता, समता, न्याय व बन्धुत्व के मूल्यों पर आधारित राष्ट्र के निर्माण में योग देंगे जिससे ऐसे समाज का निर्माण होगा जहां सभी आजीविका, स्वास्थ्य-सेवा, शिक्षा व अपने व्यक्तित्व के विकास की संभावनाओं का लाभ उठा सकें। यही वह भारत है, जिसकी कल्पना संविधान निर्माताओं ने की थी और जिसे हम 70 साल की आज़ादी के बाद भी प्राप्त नहीं कर सके हैं। ❑

सन्दर्भ

- **बेतेली, आंद्रे (2012):** इण्डियाज डेस्टिनी नॉट कास्ट इन स्टोन द हिन्दू: 1 फरवरी
- **जयाल, नीरजा गोपाल (2006):** रीप्रेसेंटिंग इंडिया: एथनिक डाइवर्सिटी एंड द गवर्नेंस ऑफ़ पब्लिक इंस्टिट्यूशंस, हैम्पशायर: पालग्रेव
- **पाल्शिक्र, सुभाष व सूरी केण्सी (2014):** इंडियाज़ 2014 इलेक्शंस इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, अंक XLIX, वर्ष 39, सितंबर 27
- **विनर, मायरण (2002):** द स्ट्रगल फॉर इक्वैलिटी: कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स इन कोहली अतुल (सं) द सक्सेस ऑफ़ इंडियाज़ डेमोक्रेसी, दिल्ली: फाउंडेशन बुक्स।

अटल पेंशन योजना के तहत अब तक 62 लाख पंजीकरण

पेंशन निधि विनियामक और विकास प्राधिकरण (पीएफआरडीए) ने अपने 'एक देश एक पेंशन' अभियान के जरिए 3.07 लाख एपीवाई खाते खोले हैं जिसके साथ ही अटल पेंशन योजना (एपीवाई) के तहत अब तक कुल पंजीकरण की संख्या 62 लाख पहुंच गई है। पीएफआरडीए ने एपीवाई सेवा प्रदाता बैंकों के साथ मिलकर 2 अगस्त से 19 अगस्त तक देश भर में यह अभियान चलाया था। पंजीकरण की बढ़ती संख्या से परिसम्पत्ति का वित्तीयकरण होता है तथा लोग पेंशन उत्पादों की ओर रुख कर रहे हैं जिसमें पेंशन पॉलिसी लेने वाले व्यक्ति, पति अथवा पत्नी को निश्चित पेंशन और नामिति को कॉर्पस वापस देने के लिए भारत सरकार की गारंटी निहित है।

इस अभियान के तहत देश के सबसे बड़े बैंकों जैसे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया ने 51,000 एपीवाई खाते खोलने में सहायता की तथा अन्य प्रमुख बैंकों जैसे केनरा बैंक ने 32,306 एपीवाई खाते, आंध्र बैंक ने 29,057 एपीवाई खाते खोले, अन्य निजी बैंकों की श्रेणी में कर्नाटक बैंक ने 2641 एपीवाई खाते, आरआरबी श्रेणी में इलाहाबाद यूपी ग्रामीण बैंक में 28,609 एपीवाई खाते खोले गए। मध्य बिहार ग्रामीण बैंक में 5,056 एपीवाई खाते, बड़ौदा उत्तर प्रदेश ग्रामीण बैंक में 3,013 एपीवाई खाते, काशी गोमती संयुक्त ग्रामीण बैंक में 2,847 एपीवाई खाते और पंजाब ग्रामीण बैंक में 2,194 एपीवाई खाते खोले गए।

ऐसे समय में जब बचत बैंक सहित विभिन्न वित्तीय साधनों पर मिलने वाले ब्याज में कमी आ रही है, अटल पेंशन योजना इसे लेने वाले व्यक्ति को 8 प्रतिशत की निश्चित दर से रिटर्न की गारंटी देती है तथा 20-42 वर्ष तक योजना में बने रहने के बाद परिपक्वता के समय रिटर्न की दर 8 प्रतिशत से अधिक रहने की स्थिति में अधिक आय का अवसर भी प्रदान करती है। ❑